Gyanvividha, Vol.-3; Issue-1 (Jan.-March) 2026 : PP-119-129

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-4.5
Vol.-3; Issue-1 (Jan.-March) 2026
Page No.- 119-129
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

Author's :

1. रोहित कुमार चौधरी
शोधार्थी, संस्कृत विभाग,
मोनाड विवि, हापुड़, उत्तरप्रदेश.

2. विनिता शर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
मोनाड विवि, हापुड़, उत्तरप्रदेश.

Corresponding Author :

रोहित कुमार चौधरी
शोधार्थी, संस्कृत विभाग,
मोनाड विवि, हापुड़, उत्तरप्रदेश.

संस्कृत धातुओं के शब्दार्थ में एकरूपता और भिन्नता : पाणिनीय बनाम अपाणिनीय परम्परा

सार : प्रस्तुत समीक्षात्मक शोध-पत्र संस्कृत धातुओं के शब्दार्थ में निहित एकरूपता एवं भिन्नता का पाणिनीय तथा अपाणिनीय व्याकरणिक परम्पराओं के संदर्भ में समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। संस्कृत व्याकरण में धातु को शब्द-निर्माण की मूल इकाई माना गया है, जिसके माध्यम से क्रिया, भाव और अर्थ की अभिव्यक्ति संभव होती है। पाणिनीय परम्परा, विशेषतः अष्टाध्यायी और धातुपाठ के माध्यम से, धातुओं के शब्दार्थ को गण, अनुबन्ध, उपसर्ग, सेट्–अनिट् तथा पद-भेद जैसे नियमबद्ध तत्त्वों द्वारा नियंत्रित करती है, जिससे अर्थ में संरचनात्मक स्थिरता और स्पष्टता प्राप्त होती है। इसके विपरीत, अपाणिनीय परम्पराएँ धात्वर्थ की व्याख्या में संदर्भ, प्रयोग और दार्शनिक दृष्टि को अधिक महत्त्व देती हैं, जिसके परिणामस्वरूप अर्थगत लचीलापन और बहुअर्थता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

यह अध्ययन दर्शाता है कि जहाँ पाणिनीय प्रणाली शब्दार्थ में एकरूपता और तर्कसंगत अनुशासन प्रदान करती है, वहीं अपाणिनीय परम्परा भाषा की स्वाभाविक बहुलता और प्रयोगात्मक विविधता को रेखांकित करती है। धातुओं के अर्थ में उपसर्ग-प्रयोग, गण-भेद, स्वर-व्यंजन परिवर्तन तथा पद-रूपों के कारण उत्पन्न भिन्नताओं का विश्लेषण इस शोध का मुख्य आधार है। निष्कर्षतः, दोनों परम्पराएँ परस्पर विरोधी न होकर पूरक सिद्ध होती हैं और संस्कृत धातु-शब्दार्थ की समग्र, संतुलित तथा बहुआयामी समझ प्रदान करती हैं।

कीवर्ड : धातु, शब्दार्थ, पाणिनीय परम्परा, अपाणिनीय परम्परा, अनेकार्थता, उपसर्ग, संस्कृत व्याकरण।

1. प्रस्तावना : संस्कृत भाषा विश्व की प्राचीनतम, सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक भाषाओं में से एक मानी जाती है। इसकी व्याकरणिक परम्परा न केवल भाषिक शुद्धता और संरचनात्मक परिशुद्धता के लिए प्रसिद्ध है, बल्कि शब्दार्थ के गहन दार्शनिक विश्लेषण के लिए भी विशिष्ट स्थान

रखती है। संस्कृत व्याकरण का मूल आधार धातु है, जिसे शब्द-निर्माण की केन्द्रीय इकाई माना गया है। **"धातुरूपेण शब्दानां मूलं व्याकरणं स्मृतम्।"** धातु से ही क्रिया, भाव, कर्तृत्व तथा अर्थ की विविध अभिव्यक्तियाँ संभव होती हैं। अतः धातुओं के शब्दार्थ का अध्ययन संस्कृत भाषाविज्ञान का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष है। प्रस्तुत अध्ययन का केन्द्र बिन्दु पाणिनीय एवं अपाणिनीय परम्पराओं में संस्कृत धातुओं के शब्दार्थ की एकरूपता और भिन्नता का समीक्षात्मक विश्लेषण है, जैसा कि प्रदत्त शोध-प्रबंध में विस्तार से विवेचित किया गया है। पाणिनीय व्याकरण परम्परा, जिसका आधार महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी है, संस्कृत व्याकरण की सर्वाधिक प्रामाणिक और व्यवस्थित प्रणाली मानी जाती है (चोम्स्की, 2014)। इस परम्परा में धातुओं का वर्गीकरण, गण-व्यवस्था, अनुबन्ध, सेट्–अनिट्, परस्मैपद–आत्मनेपद आदि के माध्यम से धात्वर्थ को स्पष्ट, सीमित और नियमबद्ध किया गया है। पाणिनीय दृष्टि में धातु का अर्थ मूलतः क्रिया से जुड़ा हुआ होता है और प्रत्यय तथा उपसर्गों के योग से उसका विस्तार होता है। इस प्रकार पाणिनीय प्रणाली शब्दार्थ में एक प्रकार की एकरूपता और स्थिरता को स्थापित करने का प्रयास करती है (किपार्स्की, 1969)।

इसके विपरीत, अपाणिनीय परम्पराएँ—जैसे कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र तथा अन्य व्याकरणिक धाराएँ—धातु के अर्थ को अधिक लचीले और प्रयोग-सापेक्ष रूप में स्वीकार करती हैं। इन परम्पराओं में धातुओं के शब्दार्थ का निर्धारण केवल नियमों से नहीं, बल्कि प्रयोग, संदर्भ और दार्शनिक व्याख्या के आधार पर किया जाता है (बेहरा, 2016)। परिणामस्वरूप, एक ही धातु के अनेक अर्थ स्वीकार किए जाते हैं, जिसे प्रसिद्ध सूत्र में व्यक्त किया गया है— **"अनेकार्था हि धातवः।"** यह अवधारणा अपाणिनीय परम्परा में विशेष रूप से प्रभावशाली है, जहाँ अर्थ की बहुलता को भाषा की स्वाभाविक विशेषता माना गया है।

प्रस्तुत विषय की प्रासंगिकता इस तथ्य में निहित है कि संस्कृत धातुओं के शब्दार्थ में पाई जाने वाली एकरूपता और भिन्नता केवल भाषिक समस्या नहीं है, बल्कि यह भारतीय बौद्धिक परम्परा के दार्शनिक, सांस्कृतिक और ज्ञानमीमांसीय आयामों से भी जुड़ी हुई है। पाणिनीय परम्परा न्याय और मीमांसा दर्शन से प्रभावित होकर अर्थ को निश्चित और नियमाधीन मानती है, जबकि अपाणिनीय परम्पराएँ स्फोट, अन्वय और अभिहितान्वय जैसे सिद्धान्तों के माध्यम से अर्थ को अधिक समग्र और अनुभूतिपरक रूप में देखती हैं। इस कारण दोनों परम्पराओं के बीच धात्वर्थ की व्याख्या में मौलिक अंतर दृष्टिगोचर होता है (बेहरा, 2015)।

उदाहरणस्वरूप, किसी धातु का अर्थ भ्वादि गण में भिन्न और अदादि अथवा जुहोत्यादि गण में भिन्न रूप में प्राप्त होता है। इसी प्रकार परस्मैपद और आत्मनेपद में प्रयुक्त होने पर भी धातु का अर्थ परिवर्तित हो सकता है। यह तथ्य संस्कृत धात्वर्थ की जटिलता और समृद्धि को रेखांकित करता है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भी यह विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है (भट, 2017)। संगणकीय भाषाविज्ञान, प्राकृतिक भाषा संसाधन, तथा संस्कृत आधारित कृत्रिम बुद्धिमत्ता के क्षेत्र में पाणिनीय धातु-व्यवस्था को अत्यधिक उपयोगी माना जा रहा है। वहीं, अपाणिनीय परम्पराओं की अर्थगत लचीलापन आधुनिक भाषिक व्याख्या और साहित्यिक विश्लेषण में सहायक सिद्ध होता है।

2. पाणिनीय धातु-व्यवस्था का स्वरूप : पाणिनीय व्याकरण में धातु-व्यवस्था संस्कृत भाषा की संरचनात्मक एवं अर्थात्मक प्रणाली का मूलाधार है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी के माध्यम से धातुओं को केवल क्रियात्मक इकाइयों के रूप में नहीं, बल्कि शब्दार्थ-निर्माण की केन्द्रीय धुरी के रूप में प्रतिष्ठित किया है। पाणिनीय परम्परा में धातु को इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि वह क्रिया, व्यापार अथवा भाव का बोध कराती है— **"धातुरर्थक्रियावाचकः।"** पाणिनीय धातु-व्यवस्था का सबसे प्रमुख वैशिष्ट्य इसका सूत्रात्मक, गणबद्ध एवं नियमाधारित संगठन है। पाणिनि ने समस्त धातुओं को दश गणों (भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्रियादि एवं चुरादि) में वर्गीकृत किया है। यह गण-विभाजन केवल रूप-निर्माण की सुविधा के लिए नहीं, बल्कि धातु के अर्थ-

प्रवर्तन एवं रूपान्तरण को सुनिश्चित करने के लिए किया गया है। प्रत्येक गण का अपना विशिष्ट अर्थ-क्षेत्र एवं रूपात्मक प्रवृत्ति होती है, जिससे धातु-प्रत्यय संयोजन में एकरूपता बनी रहती है (भारती, वी., चैतन्य, वी., और सिंघल, 1995)।

पाणिनीय धातु-व्यवस्था का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष अनुबन्ध-प्रणाली है। धातुओं के साथ प्रयुक्त इट्, सेट्, अनिट् आदि अनुबन्ध धातु के रूप-निर्माण में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। ये अनुबन्ध स्वयं उच्चरित नहीं होते, परन्तु प्रत्यय-आदेश, विकार एवं संधि-प्रक्रिया को नियंत्रित करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि पाणिनीय परम्परा में धातु का स्वरूप केवल अर्थ तक सीमित न होकर नियम-नियंत्रित व्याकरणिक इकाई के रूप में विकसित हुआ है (काक, 1987)। धातु-व्यवस्था में परस्मैपद, आत्मनेपद एवं उभयपद का निर्धारण भी पाणिनीय व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह पद-भेद धातु के अर्थ से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध है। परस्मैपद में क्रिया का फल कर्ता से भिन्न होता है, जबकि आत्मनेपद में क्रिया का फल कर्ता को ही प्राप्त होता है- **"स्वार्थे आत्मनेपदम्, परार्थे परस्मैपदम्।"**
इस प्रकार पाणिनीय धातु-व्यवस्था अर्थ और रूप के बीच गहन सम्बन्ध स्थापित करती है।

पाणिनीय परम्परा में धातुओं को सकर्मक एवं अकर्मक के रूप में भी वर्गीकृत किया गया है। यह वर्गीकरण वाक्य-संरचना और कारक-प्रयोग को नियंत्रित करता है। धातु का कर्म-सापेक्ष या कर्म-निरपेक्ष होना उसके शब्दार्थ को सीमित अथवा विस्तृत करता है, जिससे वाक्य में अर्थ-स्पष्टता बनी रहती है (भारती, 1996)। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि पाणिनीय धातु-व्यवस्था अनेकार्थता को स्वीकार करते हुए भी उसे नियंत्रित करती है। यद्यपि यह माना गया है— **"अनेकार्था हि धातवः"** फिर भी पाणिनीय प्रणाली उपसर्ग, गण, पद और प्रत्यय के माध्यम से धातु के अर्थ को निश्चित दिशा प्रदान करती है। इससे भाषा में अनावश्यक अर्थ-विस्फोट नहीं होता और शास्त्रीय अनुशासन बना रहता है। समग्रतः, पाणिनीय धातु-व्यवस्था एक वैज्ञानिक, तार्किक एवं अर्थ-संयमित प्रणाली है, जो संस्कृत भाषा को संरचनात्मक स्थिरता प्रदान करती है (भाटे, एस., और काक, 1991)। यही कारण है कि यह व्यवस्था न केवल पारम्परिक व्याकरण में, बल्कि आधुनिक संगणकीय भाषाविज्ञान और संस्कृत-अध्ययन में भी अत्यन्त प्रासंगिक मानी जाती है।

3. अपाणिनीय धातु-परम्परा की विशेषताएँ : अपाणिनीय धातु-परम्परा संस्कृत व्याकरण की वह वैकल्पिक धारा है, जो पाणिनीय प्रणाली की कठोर सूत्रात्मक संरचना से भिन्न, अधिक अर्थप्रधान, संदर्भ-सापेक्ष और व्याख्यात्मक दृष्टिकोण को अपनाती है। मूल शोध-प्रबंध के अनुसार अपाणिनीय परम्पराएँ—जैसे कात्यायन, पतञ्जलि, शाकटायन, चन्द्र, कातन्त्र तथा जैन-बौद्ध व्याकरणिक परम्पराएँ—धातुओं के शब्दार्थ को केवल नियमों के अधीन न मानकर उनके प्रयोग, आशय और सांस्कृतिक संदर्भ से भी जोड़कर देखती हैं। अपाणिनीय परम्परा की प्रथम और प्रमुख विशेषता अर्थगत लचीलापन है। जहाँ पाणिनीय परम्परा धातु के अर्थ को गण, अनुबन्ध और प्रत्यय-नियमों द्वारा सीमित करती है, वहीं अपाणिनीय दृष्टि में धातु का अर्थ स्थिर न होकर संदर्भानुसार परिवर्तनीय माना गया है। द्वितीय विशेषता संदर्भ और प्रयोग की प्रधानता है। अपाणिनीय परम्परा में धातु का अर्थ शाब्दिक संरचना से अधिक उसके वाक्यगत, पाठगत एवं प्रयोजनगत उपयोग से निर्धारित होता है। मीमांसा और न्याय दर्शन के प्रभाव से यहाँ यह माना गया कि शब्दार्थ का बोध केवल व्याकरणिक रूप से नहीं, बल्कि वक्ता के अभिप्राय और श्रोता की बौद्धिक ग्रहण-क्षमता से भी होता है। इसलिए धातुओं के अर्थ में बहुधा व्यावहारिक विविधता दिखाई देती है (मुजफ्फर, एस., बेहरा, पी., और झा, 2016)।

तृतीय महत्वपूर्ण विशेषता दार्शनिक बहुलता है। अपाणिनीय धातु-परम्परा किसी एक दार्शनिक आधार तक सीमित नहीं है। भर्तृहरि के स्फोट सिद्धान्त, मीमांसा के अन्विताभिधानवाद तथा अभिहितान्वयवाद—इन सभी का प्रभाव अपाणिनीय शब्दार्थ-चिन्तन में दृष्टिगोचर होता है। इसके परिणामस्वरूप धातु का अर्थ कभी क्रिया-प्रधान, कभी

भाव-प्रधान और कभी प्रतीकात्मक रूप में व्याख्यायित होता है। चतुर्थ विशेषता व्याकरणिक सरलता और शिक्षणोपयोगिता है। कातन्त्र और चन्द्र जैसी अपाणिनीय प्रणालियाँ पाणिनीय व्याकरण की अपेक्षा सरल मानी जाती हैं। इनमें धातु-प्रविष्टियाँ कम तकनीकी चिह्नों के साथ दी जाती हैं, जिससे धातु के मूल अर्थ को ग्रहण करना अपेक्षाकृत सहज हो जाता है। यही कारण है कि अपाणिनीय परम्पराएँ शिक्षण एवं साहित्यिक प्रयोग में अधिक लोकप्रिय रही हैं। पंचम विशेषता धातु-प्रविष्टियों में विविधता है। मूल शोध में यह स्पष्ट किया गया है कि अपाणिनीय धातुपाठों में धातुओं की संख्या, क्रम तथा अर्थ-विवरण पाणिनीय धातुपाठ से भिन्न मिलता है (बेगम, आर., हुसैन, एस., ध्वज, ए., शर्मा, द.एम., बाई, एल., और संगल, 2008)। कहीं एक ही धातु के अनेक अर्थ दिए गए हैं, तो कहीं पाणिनीय परम्परा में स्वीकृत धातु अपाणिनीय परम्परा में अनुपस्थित भी पाई जाती है। इससे यह संकेत मिलता है कि अपाणिनीय परम्परा भाषा को एक जीवंत और विकासशील सत्ता के रूप में देखती है।

अपाणिनीय धातु-परम्परा संस्कृत शब्दार्थ को नियमों की सीमाओं से मुक्त कर, उसे दर्शन, प्रयोग और संदर्भ के व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता और पाणिनीय परम्परा से इसका मूलभूत भेद है।

4. शब्दार्थ में एकरूपता की अवधारणा : संस्कृत व्याकरण परम्परा में शब्दार्थ की एकरूपता एक केन्द्रीय और आधारभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार की गई है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी शब्द—विशेषतः धातु—का एक मूल, स्थिर और सामान्य अर्थ होता है, जो विभिन्न व्याकरणिक प्रक्रियाओं के उपरान्त भी पूर्णतः नष्ट नहीं होता। पाणिनीय परम्परा इस एकरूपता को व्याकरणिक नियमों, गण-व्यवस्था, अनुबन्धों तथा प्रत्यय-प्रणाली के माध्यम से सुनिश्चित करती है। धातु को क्रिया का मूल स्रोत मानते हुए यह माना गया है कि शब्द-निर्माण की समस्त प्रक्रियाएँ उसी मूल अर्थ का विस्तार या विशिष्ट रूप प्रस्तुत करती हैं, न कि उसके पूर्ण परिवर्तन का। पाणिनीय दृष्टिकोण में धातु का शब्दार्थ नियम-नियंत्रित होता है। धातुपाठ में धातुओं का क्रमबद्ध संकलन, उनके गण-निर्धारण तथा अर्थ-संकेत इस बात का प्रमाण हैं कि आचार्य पाणिनि ने धात्वर्थ की स्थिरता को अत्यधिक महत्त्व दिया। प्रत्यय, उपसर्ग या पद-भेद (परस्मैपद, आत्मनेपद) के प्रयोग से अर्थ में जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, वह मूलतः कार्यात्मक या प्रायोगिक होता है, न कि मौलिक। इस प्रकार पाणिनीय परम्परा में शब्दार्थ की एकरूपता भाषा में अनुशासन, स्पष्टता और बोधगम्यता को बनाए रखने का साधन बनती है (रैम्बो, 2010)।

इसके विपरीत, अपाणिनीय परम्पराओं में शब्दार्थ की एकरूपता को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया गया, अपितु उसे अधिक लचीले रूप में स्वीकार किया गया है। यहाँ यह माना गया है कि यद्यपि धातु का एक मूल अर्थ होता है, तथापि संदर्भ, प्रयोग, दार्शनिक दृष्टिकोण और भाषिक आवश्यकता के अनुसार उस अर्थ की व्याप्ति भिन्न-भिन्न हो सकती है। इस परम्परा में एकरूपता को सापेक्ष माना गया है—अर्थात् मूल अर्थ बना रहता है, परन्तु उसके अभिव्यक्ति-रूप अनेक हो सकते हैं। यह दृष्टि विशेषतः मीमांसा, न्याय तथा व्याकरण-दर्शन के अन्य विद्यालयों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। शब्दार्थ की एकरूपता का सीधा सम्बन्ध संस्कृत भाषा की संरचनात्मक स्थिरता से है। यदि धातुओं के अर्थ पूर्णतः अस्थिर या अनियंत्रित होते, तो न तो सूत्र-प्रणाली संभव होती और न ही व्याकरण का वैज्ञानिक ढाँचा विकसित हो पाता। इसी कारण पाणिनीय परम्परा में यह स्वीकार किया गया कि अर्थ की एक आधारभूत धुरी अवश्य होनी चाहिए, जिसके चारों ओर शब्द-निर्माण की प्रक्रिया संचालित हो (भारती, वी., और संगल, 1993)। यह एकरूपता भाषा को परम्परा से जोड़ती है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी अर्थ-परम्परा के संरक्षण में सहायक होती है।

साथ ही, यह भी ध्यान देने योग्य है कि शब्दार्थ की एकरूपता संस्कृत में अर्थगत जड़ता नहीं उत्पन्न करती। इसके विपरीत, यह एक स्थिर आधार प्रदान करती है, जिसके सहारे भाषा नवप्रयोगों, साहित्यिक सृजन और दार्शनिक

विमर्श में आगे बढ़ती है। धातु का मूल अर्थ एक केन्द्र के रूप में कार्य करता है, जबकि विविध प्रत्ययात्मक एवं प्रायोगिक रूप उस केन्द्र के चारों ओर विकसित होते हैं। इस प्रकार शब्दार्थ की एकरूपता और अर्थ-विस्तार—दोनों एक-दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर पूरक सिद्ध होते हैं।

5. शब्दार्थ में भिन्नता के कारण : संस्कृत व्याकरण में धातुओं के शब्दार्थ में भिन्नता एक स्वाभाविक तथा शास्त्रीय रूप से स्वीकृत तथ्य है। यह भिन्नता केवल व्याकरणिक असंगति का परिणाम नहीं, बल्कि भाषा की जीवंतता, प्रयोगशीलता और दार्शनिक गहराई का द्योतक है। पाणिनीय तथा अपाणिनीय परम्पराओं में धात्वर्थ के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शब्दार्थ की भिन्नता अनेक भाषिक, व्याकरणिक एवं दार्शनिक कारणों से उत्पन्न होती है।

प्रथम प्रमुख कारण उपसर्गों का प्रयोग है। संस्कृत में उपसर्ग धातु के मूल अर्थ को विशेष, विस्तृत अथवा परिवर्तित कर देते हैं। एक ही धातु, भिन्न-भिन्न उपसर्गों के संयोग से नये-नये अर्थ ग्रहण कर लेती है। उदाहरणतः 'गम्' धातु का अर्थ 'जाना' है, किंतु 'आगम्', 'निर्गम्', 'प्रवेश' आदि रूपों में इसका अर्थ दिशात्मक एवं भावात्मक रूप से बदल जाता है। पाणिनीय परम्परा में यह परिवर्तन नियमबद्ध है, जबकि अपाणिनीय परम्पराएँ इसे अधिक संदर्भाधारित रूप में स्वीकार करती हैं। द्वितीय कारण धातु के गण-भेद से संबंधित है। पाणिनीय धातुपाठ में धातुओं को भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि आदि गणों में वर्गीकृत किया गया है। कई बार एक ही धातु विभिन्न गणों में प्रविष्ट होकर भिन्न अर्थ व्यक्त करती है। गण के साथ जुड़ी प्रत्यय-प्रक्रिया धातु के अर्थ को सूक्ष्म रूप से प्रभावित करती है। अपाणिनीय परम्पराओं में गण-व्यवस्था अपेक्षाकृत शिथिल होने के कारण अर्थ-भिन्नता अधिक व्यापक दिखाई देती है। तृतीय कारण पद-भेद (परस्मैपद, आत्मनेपद एवं उभयपद) है (निवरे, 2005)। धातु जब परस्मैपद में प्रयुक्त होती है, तब उसका अर्थ कर्तृप्रधान होता है, जबकि आत्मनेपद में प्रयोग होने पर फल या भाव की ओर झुकाव बढ़ जाता है। इसी कारण एक ही धातु के विभिन्न पदरूपों में अर्थ का सूक्ष्म परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। यह अंतर पाणिनीय व्याकरण में स्पष्ट रूप से नियमों द्वारा नियंत्रित है, जबकि अपाणिनीय दृष्टि में इसे भावप्रधानता से जोड़ा गया है।

चतुर्थ कारण स्वर एवं व्यंजन परिवर्तन है। धातु में स्वर-दीर्घता, गुण, वृद्धि अथवा व्यंजन-परिवर्तन से अर्थ में भिन्नता उत्पन्न होती है। कभी-कभी अल्प ध्वन्यात्मक परिवर्तन भी अर्थ को पूर्णतः परिवर्तित कर देता है। यह प्रक्रिया संस्कृत की ध्वन्यात्मक संवेदनशीलता को दर्शाती है। पंचम कारण संदर्भ और प्रयोग है। अपाणिनीय परम्परा विशेष रूप से इस तथ्य पर बल देती है कि धातु का वास्तविक अर्थ उसके प्रयोग-संदर्भ से निर्धारित होता है। काव्य, दर्शन, वैदिक तथा लौकिक साहित्य में एक ही धातु भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होती है। इस संदर्भगत विविधता को अपाणिनीय परम्परा सहज रूप से स्वीकार करती है।

दार्शनिक दृष्टिकोण भी शब्दार्थ-भिन्नता का एक महत्वपूर्ण कारण है। पाणिनीय परम्परा में अर्थ को नियमों के माध्यम से स्थिर करने का प्रयास है, जबकि अपाणिनीय परम्पराएँ स्फोट, अन्वय और व्याख्यात्मक दृष्टि के माध्यम से अर्थ की बहुलता को मान्यता देती हैं। इस प्रकार, शब्दार्थ में भिन्नता संस्कृत व्याकरण की कमजोरी नहीं, बल्कि उसकी वैचारिक समृद्धि और अनुसंधानात्मक गहराई का प्रमाण है।

6. अनेकार्था हि धातवः : सैद्धान्तिक विमर्श : संस्कृत व्याकरण एवं शब्दार्थ-चिन्तन में **धातु** को केवल क्रिया का द्योतक नहीं माना गया है, अपितु उसे अर्थ-निर्माण की केन्द्रीय इकाई के रूप में स्वीकार किया गया है। धातुओं की अर्थगत प्रकृति पर विचार करते समय 'अनेकार्था हि धातवः' की धारणा विशेष महत्त्व रखती है। इसका तात्पर्य यह है कि एक ही धातु विभिन्न सन्दर्भों, प्रयोगों, उपसर्गों, प्रत्ययों तथा पद-भेद के अनुसार अनेक अर्थों को व्यक्त कर सकती है। यह सिद्धान्त संस्कृत शब्दार्थ-विज्ञान की जटिलता और सूक्ष्मता को प्रकट करता है। पाणिनीय परम्परा में धातुओं के अनेकार्थत्व को स्वीकार तो किया गया है, किन्तु उसे पूर्णतः स्वच्छन्द नहीं छोड़ा गया। पाणिनि ने धातुओं के अर्थ को गण-विभाजन, अनुबन्ध, सेट्–अनिट् व्यवस्था, परस्मैपद–आत्मनेपद भेद तथा उपसर्ग-नियमन के माध्यम से

नियंत्रित किया है। पाणिनीय दृष्टि में धातु का मूल अर्थ अपेक्षाकृत स्थिर रहता है और अर्थ-परिवर्तन को व्याकरणिक नियमों द्वारा स्पष्ट किया जाता है। इस प्रकार अनेकार्थता होते हुए भी अर्थ-निर्णय में नियमबद्धता बनी रहती है, जिससे भाषिक स्पष्टता और शास्त्रीय अनुशासन सुरक्षित रहता है (हेलविग, 1986)।

इसके विपरीत, अपाणिनीय परम्पराओं में धातुओं की अनेकार्थता को अधिक व्यापक और स्वाभाविक माना गया है। यहाँ धातु का अर्थ केवल व्याकरणिक संरचना पर निर्भर नहीं करता, बल्कि प्रयोग-सन्दर्भ, वाक्य-परिवेश और दार्शनिक पृष्ठभूमि से भी प्रभावित होता है। मीमांसा, न्याय और वैयाकरणिक दार्शनिक परम्पराओं में यह स्वीकार किया गया है कि धातु का अर्थ सन्दर्भानुसार विकसित होता है और एक ही धातु विभिन्न प्रयोजनों में भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण कर सकती है। इस दृष्टि से अनेकार्थता भाषा की जीवंतता का सूचक मानी जाती है। धातुओं की अनेकार्थता का एक महत्त्वपूर्ण कारण उपसर्ग-प्रयोग भी है। उपसर्ग धातु के मूल अर्थ को न केवल विस्तारित करता है, बल्कि कई बार उसमें गुणात्मक या दिशात्मक परिवर्तन भी उत्पन्न करता है। इसी प्रकार स्वर अथवा व्यंजन-परिवर्तन, पद-भेद तथा गण-भेद के कारण भी धात्वर्थ में विविधता दृष्टिगोचर होती है। यह विविधता संस्कृत भाषा को अभिव्यक्ति की असाधारण क्षमता प्रदान करती है (चोम्स्की, 2014)।

सैद्धान्तिक रूप से देखा जाए तो 'अनेकार्था हि धातवः' का सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि संस्कृत भाषा में अर्थ स्थिर न होकर गतिशील है। पाणिनीय परम्परा जहाँ इस गतिशीलता को नियमों की सीमा में रखती है, वहीं अपाणिनीय परम्परा इसे व्यापक दार्शनिक और प्रयोगात्मक धरातल पर स्वीकार करती है। दोनों दृष्टियों का समन्वय संस्कृत शब्दार्थ-विज्ञान को गहन, समृद्ध और बहुआयामी बनाता है।

7. पाणिनीय बनाम अपाणिनीय धात्वर्थ-नियमन : संस्कृत व्याकरण में **धात्वर्थ-नियमन** का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि धातु ही क्रियात्मक अर्थ की मूल इकाई होती है। पाणिनीय तथा अपाणिनीय परम्पराओं में धातु के अर्थ को समझने और नियंत्रित करने की पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों पर आधारित हैं। इन दोनों प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन संस्कृत शब्दार्थ-विज्ञान की वैज्ञानिक तथा दार्शनिक संरचना को स्पष्ट करता है। पाणिनीय परम्परा में धात्वर्थ का नियमन मुख्यतः **सूत्रात्मक व्यवस्था** द्वारा किया गया है। पाणिनि द्वारा प्रतिपादित व्याकरण एक नियमबद्ध, गणात्मक तथा अनुबन्ध-आधारित प्रणाली है, जिसमें प्रत्येक धातु को विशिष्ट अर्थ के साथ प्रस्तुत किया गया है। धातुपाठ में धातुओं का क्रमबद्ध वर्गीकरण, गण-विभाजन, सेट्-अनिट् निर्धारण तथा परस्मैपद-आत्मनेपद का निर्देश धातु के अर्थ को सीमित एवं सुनिश्चित करता है। पाणिनीय प्रणाली का उद्देश्य यह है कि धातु का अर्थ अनावश्यक बहुअर्थता से मुक्त रहे और उसका प्रयोग व्याकरणिक नियमों के अन्तर्गत नियंत्रित हो। इस प्रकार यहाँ धात्वर्थ का स्वरूप **नियमप्रधान और संरचनात्मक** बन जाता है, जिससे भाषा में स्थिरता और शुद्धता बनी रहती है (किपार्स्की, 1969)।

इसके विपरीत, अपाणिनीय परम्परा में धात्वर्थ-नियमन अपेक्षाकृत लचीला और संदर्भ-आधारित है। गैर-पाणिनीय व्याकरणिक परम्पराएँ धातु के अर्थ को केवल सूत्रों और गणों तक सीमित नहीं मानतीं, बल्कि उसके प्रयोग, प्रसंग और दार्शनिक पृष्ठभूमि को भी महत्त्व देती हैं। इस दृष्टिकोण में धातु का अर्थ समय, स्थान, उपसर्ग तथा वाक्य-परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित हो सकता है। अपाणिनीय विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि एक ही धातु विभिन्न संदर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थों को व्यक्त कर सकती है, और यही भाषा की जीवंतता का प्रमाण है। पाणिनीय धात्वर्थ-नियमन जहाँ व्याकरणिक अनुशासन और अर्थ-निश्चितता पर बल देता है, वहीं अपाणिनीय परम्परा अर्थ की बहुलता और व्याख्यात्मक स्वतंत्रता को स्वीकार करती है। पाणिनीय दृष्टि में धातु का अर्थ पूर्वनिर्धारित होता है, जबकि अपाणिनीय दृष्टि में वह अर्थ प्रयोग से विकसित होता है। दोनों परम्पराओं का यह अंतर संस्कृत शब्दार्थ-विज्ञान को दो समानान्तर दिशाएँ प्रदान करता है—एक ओर नियमबद्धता और दूसरी ओर अर्थगत विस्तार।

यह कहा जा सकता है कि पाणिनीय और अपाणिनीय धात्वर्थ-नियमन परस्पर विरोधी न होकर परस्पर पूरक हैं। पाणिनीय प्रणाली भाषा को संरचना प्रदान करती है, जबकि अपाणिनीय प्रणाली उसे अर्थात्मक गहराई और दार्शनिक व्यापकता देती है (बेहरा, 2016)। संस्कृत अनुसंधान की दृष्टि से दोनों का समन्वित अध्ययन ही धात्वर्थ की सम्यक् समझ के लिए अनिवार्य है।

8. धातुओं की अर्थ-स्वायत्तता : संस्कृत व्याकरण में **धातु** केवल क्रिया का बीज मात्र नहीं है, अपितु वह अपने भीतर एक स्वतंत्र, सुसंगत और प्रायः पूर्ण अर्थ-संभावना को वहन करती है। इसी विशेषता को धातुओं की अर्थ-स्वायत्तता कहा जाता है। अर्थ-स्वायत्तता का अभिप्राय यह है कि अनेक धातुएँ उपसर्ग, प्रत्यय अथवा अन्य बाह्य तत्त्वों के अभाव में भी अपने मूल अर्थ को स्पष्ट रूप से प्रकट करने में सक्षम होती हैं। यह तथ्य संस्कृत शब्दार्थ-विज्ञान की गहराई और सूक्ष्मता को दर्शाता है। पाणिनीय परम्परा में धातु को अर्थवत्त्व से युक्त माना गया है। धातु का अर्थ किसी आकस्मिक प्रयोग का परिणाम नहीं होता, बल्कि वह व्याकरणिक संरचना में निहित एक स्थायी तत्त्व होता है (बेहरा, 2015)। इसी कारण पाणिनीय धातुपाठ में प्रत्येक धातु के साथ उसका मूल अर्थ संक्षेप में निर्दिष्ट किया गया है। यह संकेत करता है कि धातु अपने आप में अर्थ का एक संगठित केंद्र है, जिसे व्याकरणिक नियमों द्वारा नियंत्रित किया जाता है। धातु के साथ प्रयुक्त प्रत्यय या उपसर्ग उसके अर्थ का विस्तार तो करते हैं, परंतु मूल अर्थ को पूर्णतः नष्ट नहीं करते।

अपाणिनीय परम्पराओं में धातुओं की अर्थ-स्वायत्तता को और अधिक व्यापक रूप में स्वीकार किया गया है। यहाँ धातु का अर्थ केवल नियम-निर्भर नहीं, बल्कि प्रयोग, संदर्भ और दार्शनिक दृष्टि से भी निर्धारित होता है। अनेक अपाणिनीय व्याकरणकार यह स्वीकार करते हैं कि धातु का अर्थ स्थिर न होकर गतिशील है, और वह विभिन्न संदर्भों में स्वयं को स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त कर सकता है। इस दृष्टि से धातु केवल व्याकरणिक इकाई नहीं, बल्कि अर्थ की जीवंत संरचना बन जाती है (भट, 2017)। धातुओं की अर्थ-स्वायत्तता का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि कुछ धातुएँ बिना किसी उपसर्ग के भी पूर्ण क्रिया-बोध कराती हैं। जैसे— गम्, स्था, भू, दा आदि धातुएँ अपने मूल रूप में ही गमन, स्थिति, अस्तित्व और दान जैसे स्पष्ट अर्थ प्रदान करती हैं। यह स्वायत्तता संस्कृत भाषा की अभिव्यक्तिगत क्षमता को सुदृढ़ बनाती है और शब्द-निर्माण की प्रक्रिया को अधिक अर्थपूर्ण बनाती है।

दार्शनिक दृष्टि से धातु की अर्थ-स्वायत्तता भाषा और अर्थ के शाश्वत संबंध को भी सूचित करती है। भारतीय व्याकरण परम्परा में शब्द और अर्थ का संबंध केवल सामाजिक संप्रदाय का परिणाम नहीं माना गया, बल्कि उसे एक आंतरिक और स्वाभाविक संबंध के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी कारण धातु का अर्थ बाह्य संरचनाओं पर पूर्णतः आश्रित न होकर स्वयं में निहित माना गया है।

9. गण-भेद और अर्थ-भेद : संस्कृत व्याकरण में **धातु** केवल क्रिया की सूचक इकाई नहीं है, अपितु वह अर्थ-निर्माण की मूल आधारशिला भी है। पाणिनीय व्याकरण परम्परा में धातुओं का **गणों में वर्गीकरण** एक सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक पद्धति के अंतर्गत किया गया है। यह गण-विभाजन मात्र औपचारिक नहीं है, बल्कि इसका सीधा प्रभाव धातु के **शब्दार्थ**, प्रयोग-क्षेत्र तथा अर्थ-विस्तार पर पड़ता है। भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्रियादि तथा चुरादि—ये सभी गण धातु के अर्थ को विशिष्ट दिशा प्रदान करते हैं। गण-भेद के कारण एक ही धातु विभिन्न गणों में स्थित होकर भिन्न-भिन्न अर्थों को व्यक्त करती है। उदाहरणस्वरूप, किसी धातु का भ्वादि-गण में प्रयोग सामान्य क्रियावाचक अथवा भौतिक अर्थ प्रदान करता है, जबकि वही धातु यदि अदादि अथवा जुहोत्यादि गण में प्रयुक्त हो, तो उसमें भावात्मक, आभ्यन्तरिक या मानसिक अर्थ का संचार हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गण केवल धातुओं की सूची नहीं, बल्कि उनके अर्थ-नियमन की सशक्त प्रणाली है (भारती, 1995)।

पाणिनीय धातुपाठ में प्रत्येक धातु को गण-विशेष से सम्बद्ध कर उसका प्राथमिक अर्थ निर्धारित किया गया है। इस व्यवस्था का उद्देश्य यह है कि धातु-प्रयोग में अर्थगत अस्पष्टता न उत्पन्न हो। किन्तु व्यवहार में देखा जाता है

कि समान धातु विभिन्न गणों में प्रविष्ट होकर अपने मूल अर्थ से आंशिक या पूर्ण विचलन प्रदर्शित करती है। यही स्थिति अर्थ-भेद का मूल कारण बनती है। यह भेद कभी-कभी धातु के सकर्मक–अकर्मक स्वरूप में परिवर्तन के रूप में, तो कभी उसके क्रियाफल के रूपान्तरण के रूप में दृष्टिगोचर होता है। अपाणिनीय परम्पराओं में गण-व्यवस्था अपेक्षाकृत लचीली है। यहाँ धातु का अर्थ अधिकतर प्रयोग, सन्दर्भ तथा व्याख्यात्मक परम्परा पर निर्भर करता है। फलतः एक ही धातु विभिन्न ग्रन्थों एवं आचार्यों के अनुसार भिन्न अर्थों में प्रयुक्त पाई जाती है। यह स्थिति अर्थ-बहुलता को जन्म देती है, जो शास्त्रीय विवेचन में कभी-कभी अर्थ-संकट भी उत्पन्न करती है।

संस्कृत शोध की दृष्टि से गण-भेद और अर्थ-भेद का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह न केवल व्याकरणिक संरचना को स्पष्ट करता है, बल्कि भाषा के दार्शनिक और सांस्कृतिक आयामों को भी उद्घाटित करता है। धातु के गण-निर्धारण के माध्यम से यह समझा जा सकता है कि संस्कृत भाषा में अर्थ स्थिर न होकर गतिशील है, तथा वह संरचना और प्रयोग—दोनों के संतुलन से विकसित होता है। इस प्रकार गण-भेद संस्कृत धातुओं के अर्थ-वैविध्य को समझने की एक अनिवार्य कुंजी सिद्ध होता है (काक, 1987)।

10. भ्रामक धातुएँ और अर्थ-संकट : संस्कृत धातु-शास्त्र में **भ्रामक धातुएँ** वह धातुएँ हैं जिनके शब्दार्थ को लेकर व्याकरणिक परम्पराओं, संदर्भों तथा प्रयोगों में स्पष्ट एकरूपता नहीं पाई जाती। ऐसी धातुएँ अर्थ-निर्णय के स्तर पर विद्वानों के समक्ष अर्थ-संकट उत्पन्न करती हैं। पाणिनीय एवं अपाणिनीय परम्पराओं के तुलनात्मक अध्ययन में यह तथ्य विशेष रूप से उभरकर सामने आता है कि कुछ धातुएँ नियमबद्ध व्याख्या के बावजूद अर्थगत अस्पष्टता बनाए रखती हैं। पाणिनीय परम्परा में धातुओं का अर्थ प्रायः **धातुपाठ**, गण-निर्देश, अनुबन्ध, उपसर्ग तथा पद-भेद के माध्यम से निश्चित किया जाता है। इस व्यवस्था का उद्देश्य अर्थ-संकट को न्यूनतम करना है। तथापि व्यवहार में यह देखा जाता है कि कुछ धातुएँ विभिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करती हैं, जिससे उनका निश्चित अर्थ निर्धारित करना कठिन हो जाता है। उदाहरणस्वरूप, एक ही धातु का सकर्मक एवं अकर्मक प्रयोग अथवा परस्मैपदी और आत्मनेपदी प्रयोग अर्थ में सूक्ष्म किंतु महत्वपूर्ण अंतर उत्पन्न कर देता है (मुजफ्फर, एस., बेहरा, पी., और झा, 2016)।

अपाणिनीय परम्परा में यह समस्या और अधिक जटिल हो जाती है, क्योंकि वहाँ धात्वर्थ का निर्धारण केवल व्याकरणिक नियमों पर आधारित न होकर प्रयोग, संदर्भ और दार्शनिक दृष्टि पर भी निर्भर करता है। इस परम्परा में यह स्वीकार किया गया है कि भाषा स्थिर नहीं है, अपितु समय, स्थान और प्रयोजन के अनुसार अर्थ में परिवर्तन स्वाभाविक है। परिणामस्वरूप, वही धातु जो पाणिनीय दृष्टि से एक सीमित अर्थ में बंधी प्रतीत होती है, अपाणिनीय व्याख्या में बहुअर्थी या प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण कर लेती है। भ्रामक धातुओं के अर्थ-संकट का एक प्रमुख कारण उपसर्ग-प्रयोग भी है। उपसर्ग धातु के मूल अर्थ को विस्तार, संकोच अथवा पूर्ण रूप से परिवर्तित कर सकता है। कई बार उपसर्गयुक्त रूप का अर्थ मूल धातु से इतना भिन्न हो जाता है कि धातु का स्वाभाविक अर्थ पहचानना कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त, ध्वनि-परिवर्तन, स्वर-दीर्घता या व्यंजन-परिवर्तन भी अर्थ-संकट को जन्म देते हैं (बेगम, आर., हुसैन, एस., ध्वज, ए., शर्मा, द.एम., बाई, एल., और संगल, 2008)।

शोध की दृष्टि से यह स्पष्ट होता है कि भ्रामक धातुएँ संस्कृत शब्दार्थ-विज्ञान की एक महत्वपूर्ण समस्या हैं, किंतु इन्हें केवल दोष के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। वास्तव में, यही धातुएँ संस्कृत भाषा की अर्थगत समृद्धि, लचीलापन और दार्शनिक गहराई को भी प्रकट करती हैं। पाणिनीय परम्परा जहाँ इन धातुओं को नियमों द्वारा नियंत्रित करने का प्रयास करती है, वहीं अपाणिनीय परम्परा इन्हें अर्थ-विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करती है। इस प्रकार, भ्रामक धातुओं और उनसे उत्पन्न अर्थ-संकट का अध्ययन संस्कृत व्याकरण और शब्दार्थ-विज्ञान की समग्र समझ के लिए अनिवार्य सिद्ध होता है।

11. दार्शनिक दृष्टि से शब्दार्थ : संस्कृत परम्परा में **शब्दार्थ** का विचार केवल भाषिक नहीं, अपितु गहन दार्शनिक आधारों से जुड़ा हुआ है। यहाँ शब्द को केवल ध्वनि-समूह न मानकर उसे अर्थबोध का साधन माना गया है। भारतीय दर्शन में भाषा, ज्ञान और वास्तविकता के पारस्परिक सम्बन्ध पर निरन्तर विचार हुआ है, और इसी विमर्श में शब्दार्थ की दार्शनिक व्याख्या विकसित हुई है। पाणिनीय परम्परा में शब्दार्थ का स्वरूप मुख्यतः **नियमाधारित एवं संरचनात्मक** है। धातु, प्रत्यय और उपसर्ग के माध्यम से शब्द का अर्थ सुनिश्चित किया जाता है। इस परम्परा में यह माना गया है कि शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध व्यवस्थित एवं नियत है। धातु के मूल अर्थ को व्याकरणिक प्रक्रियाओं द्वारा विकसित किया जाता है, जिससे अर्थ की स्थिरता बनी रहती है। इस दृष्टि से शब्दार्थ ज्ञान का साधन है और व्याकरण उसका अनुशासन (रैम्बो, 2010)।

इसके विपरीत, अपाणिनीय परम्पराओं में शब्दार्थ का विवेचन अधिक दार्शनिक एवं सन्दर्भपरक है। यहाँ शब्द और अर्थ का सम्बन्ध यांत्रिक न होकर अनुभव और बोध पर आधारित माना गया है। विशेषतः व्याकरण-दर्शन में यह स्वीकार किया गया है कि शब्द का अर्थ केवल उसके रूप से नहीं, बल्कि उसके प्रयोग, सन्दर्भ और बोध-प्रक्रिया से प्रकट होता है। इसी संदर्भ में यह मान्यता विकसित हुई कि शब्दार्थ का बोध एक समग्र अनुभव है, न कि खण्डित विश्लेषण का परिणाम। भारतीय दार्शनिक चिन्तन में शब्दार्थ के सम्बन्ध में स्फोट-सिद्धान्त का विशेष महत्व है। इसके अनुसार शब्द का अर्थ ध्वनियों के क्रमिक उच्चारण से नहीं, बल्कि एक समग्र बोध के रूप में उद्भासित होता है। यह सिद्धान्त भाषा को चेतना से जोड़ता है और शब्दार्थ को मानसिक अनुभव के रूप में प्रतिष्ठित करता है। इस दृष्टि से शब्दार्थ न केवल भाषिक इकाई है, बल्कि ज्ञानमीमांसा का भी विषय है।

मीमांसा परम्परा में शब्दार्थ को नित्य और स्वतः प्रमाण माना गया है। यहाँ यह स्वीकार किया गया है कि शब्द अपने आप में अर्थ को प्रकट करने में सक्षम है, और उसका अर्थ मानव-निर्मित नहीं बल्कि शाश्वत है। इसके विपरीत, न्याय परम्परा में शब्दार्थ का विवेचन तर्क और प्रमाण के माध्यम से किया गया है, जहाँ शब्द को ज्ञान का साधन तो माना गया, किन्तु उसे अन्य प्रमाणों पर आश्रित भी माना गया (भारती, वी., और संगल, 1993)। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से शब्दार्थ का स्वरूप बहुआयामी है। पाणिनीय परम्परा जहाँ शब्दार्थ को व्याकरणिक नियमों में बाँधती है, वहीं अपाणिनीय परम्पराएँ उसे अनुभव, बोध और दर्शन से जोड़ती हैं। इन दोनों दृष्टियों के समन्वय से ही संस्कृत शब्दार्थ की गहन और समग्र समझ विकसित होती है, जो संस्कृत अनुसंधान की दार्शनिक गरिमा को सुदृढ़ करती है।

12. समकालीन प्रासंगिकता : संस्कृत धातुओं के शब्दार्थ का पाणिनीय तथा अपाणिनीय परम्पराओं के आलोक में अध्ययन आज के शैक्षणिक और अनुसंधान परिदृश्य में विशेष रूप से प्रासंगिक हो गया है। आधुनिक युग में भाषा को केवल संप्रेषण का माध्यम न मानकर उसे ज्ञान-निर्माण, तर्क, संस्कृति तथा संज्ञानात्मक संरचनाओं से जोड़कर देखा जा रहा है। ऐसे में संस्कृत जैसी संरचनात्मक रूप से सुदृढ़ भाषा में धातु-आधारित शब्दार्थ का विश्लेषण समकालीन भाषाविज्ञान, दर्शन और अंतरविषयक शोध के लिए महत्वपूर्ण आधार प्रदान करता है। पाणिनीय परम्परा में धातुओं के अर्थ को नियमबद्ध, नियंत्रित और गणात्मक ढाँचे में समझा जाता है। यह दृष्टिकोण आधुनिक औपचारिक भाषाविज्ञान, व्याकरणिक मॉडलिंग तथा संगणकीय भाषा-विज्ञान से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ता है (निवरे, 2005)। आज संस्कृत के स्वचालित विश्लेषण, पाठ-संस्करण तथा कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित भाषा-प्रणालियों में पाणिनीय धातु-संरचना अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो रही है। धातु, प्रत्यय और उपसर्ग के निश्चित नियम संस्कृत को एक ऐसी भाषा बनाते हैं जिसे एल्गोरिदमिक रूप में रूपांतरित किया जा सकता है।

दूसरी ओर, अपाणिनीय परम्पराएँ धातु-शब्दार्थ को अधिक संदर्भ-सापेक्ष, प्रयोग-आधारित और दार्शनिक दृष्टि से विवेचित करती हैं। यह दृष्टिकोण समकालीन अर्थविज्ञान, व्यावहारिक भाषाविज्ञान तथा व्याख्याशास्त्र से गहरे

रूप में जुड़ता है। आज जब साहित्यिक पाठों, दार्शनिक ग्रंथों और वैदिक वाङ्मय की बहुस्तरीय व्याख्या की आवश्यकता अनुभव की जा रही है, तब अपाणिनीय परम्पराओं की अर्थगत लचीलापन और बहुअर्थता की स्वीकृति अत्यंत प्रासंगिक हो जाती है। यह परम्परा यह स्पष्ट करती है कि शब्दार्थ केवल व्याकरणिक संरचना का परिणाम नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और बौद्धिक संदर्भों से भी निर्मित होता है।

समकालीन संस्कृत-अनुसंधान में धातुओं के शब्दार्थ का तुलनात्मक अध्ययन पाठालोचन, शब्दकोश-निर्माण, अनुवाद-अध्ययन तथा शिक्षा-पद्धति में भी उपयोगी सिद्ध हो रहा है। इससे यह समझ विकसित होती है कि किस प्रकार एक ही धातु विभिन्न परम्पराओं में अर्थ की दृष्टि से समान भी हो सकती है और भिन्न भी (बेगम, आर., हुसैन, 2008)। यह समझ आधुनिक भारतीय ज्ञान-परम्परा को पुनर्स्थापित करने तथा संस्कृत को जीवंत शास्त्र के रूप में प्रस्तुत करने में सहायक है।

13. निष्कर्ष : प्रस्तुत समीक्षात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत धातुओं का शब्दार्थ केवल भाषिक संरचना का विषय नहीं है, अपितु वह भारतीय वैयाकरणिक परम्परा की दार्शनिक गहराई का भी प्रतिनिधित्व करता है। पाणिनीय परम्परा में धातु-अर्थ को नियमबद्ध, संरचित एवं तर्कसंगत रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिससे भाषा में स्थिरता, स्पष्टता और एकरूपता सुनिश्चित होती है। अष्टाध्यायी पर आधारित यह व्यवस्था धातु, प्रत्यय, उपसर्ग एवं गण-विन्यास के माध्यम से शब्दार्थ को सीमित एवं नियंत्रित करती है, जिससे अर्थ-विकृति की संभावना न्यूनतम हो जाती है। इसके विपरीत, अपाणिनीय परम्पराओं में धातु के शब्दार्थ को अधिक व्यापक एवं प्रयोग-सापेक्ष दृष्टि से देखा गया है। यहाँ धातु का अर्थ संदर्भ, वक्ता-आशय तथा दार्शनिक व्याख्या पर अधिक निर्भर करता है। परिणामस्वरूप एक ही धातु में बहुअर्थता, अर्थ-विस्तार तथा अर्थ-परिवर्तन की प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। यह लचीलापन संस्कृत साहित्य, दर्शन और काव्य में अर्थ की सूक्ष्म परतों को उद्घाटित करने में सहायक सिद्ध होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि पाणिनीय और अपाणिनीय परम्पराएँ परस्पर विरोधी न होकर पूरक हैं। एक ओर पाणिनीय परम्परा शब्दार्थ को संरचनात्मक अनुशासन प्रदान करती है, तो दूसरी ओर अपाणिनीय परम्परा अर्थगत गहनता और व्याख्यात्मक समृद्धि को पुष्ट करती है। दोनों के समन्वित अध्ययन से संस्कृत धातु-शब्दार्थ की समग्र, संतुलित एवं प्रामाणिक समझ विकसित होती है, जो समकालीन संस्कृत अनुसंधान के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

संदर्भ :

1. चोम्स्की, एन.(2014)। वाक्यविन्यास के सिद्धांत के पहलू (खंड 11)। एमआईटी प्रेस।
2. चोम्स्की, एन.(1993)। सरकार और बंधन पर व्याख्यान: पीसा व्याख्यान (सं. 9)। वाल्टर डी ग्रुइटर।
3. किपार्स्की, पी., और स्टाल, ज. एफ. (1969)। पाणिनि में वाक्यविन्यास और अर्थ संबंधी संबंध। भाषा की नींव, 5, 83-117।
4. बेहरा, पी., सिंह, आर., और झा, जी. एन. (2016)। अनुवाद (ईआईएलएमटी) अंग्रेजी-ओडिया मशीन-सहायता प्राप्त अनुवाद उपकरण का मूल्यांकन। वाइल्डर: एलआरईसी।
5. बेहरा, पी. (2015)। ओडिया भागों के भाषण टैगिंग कॉर्पोरा: सांख्यिकीय मॉडल की उपयुक्तता (एम. फिल. शोध प्रबंध)। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, भारत।
6. बेहरा, पी., ओझा, ए. के., और झा, जी. एन. (2015)। संबलपुरी के लिए सांख्यिकीय पीओएस टैगर्स विकसित करने में मुद्दे और चुनौतियाँ। भाषा और प्रौद्योगिकी सम्मेलन में (पृष्ठ 394-406)। स्प्रिंगर, चैम।
7. भट, आर. ए., एट अल. (2017)। हिंदी/उर्दू ट्रीबैंक परियोजना। भाषाई एनोटेशन की पुस्तिका में (पृष्ठ 659-697)। स्प्रिंगर, डॉर्ड्रेक्ट।
8. भारती, वी., चैतन्य, वी., और सिंघल, आर. (1995)। प्राकृतिक भाषा प्रसंस्करण: एक पैनिनियन परिप्रेक्ष्य।

9. काक, एस. सी. (1987)। प्राकृतिक भाषा प्रसंस्करण के लिए पैनिनियन दृष्टिकोण। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ अप्रोक्सिमेट रीजनिंग, 1(1), 117-130।
10. भारती, एम., भाटिया, वी., चैतन्य, वी., और संगल, आर. (1996)। अंग्रेजी में लागू पाणिनीय व्याकरण ढांचा। भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर, कंप्यूटर विज्ञान और इंजीनियरिंग विभाग।
11. भाटे, एस., और काक, एस. (1991)। पाणिनीय व्याकरण और कंप्यूटर विज्ञान। भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट के इतिहास, 72(1/4), 79–94।
12. मुजफ्फर, एस., बेहरा, पी., और झा, जी. एन. (2016)। अंग्रेजी-उर्दू मशीन अनुवाद में केस मार्कर त्रुटियों का विश्लेषण करने के लिए एक पाणिनीय ढांचा। प्रोसीडिया कंप्यूटर साइंस, 96, 502–510।
13. बेगम, आर., हुसैन, एस., ध्वज, ए., शर्मा, द.एम., बाई, एल., और संगल, आर. (2008)। भारतीय भाषाओं के लिए निर्भरता एनोटेशन योजना। प्राकृतिक भाषा प्रसंस्करण पर तीसरे अंतर्राष्ट्रीय संयुक्त सम्मेलन की कार्यवाही में: खंड- इइ।
14. रैम्बो, ओ. (2010)। निर्भरता और वाक्यांश संरचना अभ्यावेदन के बारे में सरल सत्य: एक राय का टुकड़ा। मानव भाषा प्रौद्योगिकी में: कम्प्यूटेशनल भाषाविज्ञान संघ के उत्तरी अमेरिकी अध्याय का 2010 वार्षिक सम्मेलन (पृष्ठ 337-340)।
15. भारती, वी., और संगल, आर. (1993)। पैनिनियन ढांचे में मुक्त शब्द क्रम भाषाओं को पार्स करना। कम्प्यूटेशनल भाषाविज्ञान संघ की 31वीं वार्षिक बैठक की कार्यवाही में (पृष्ठ 105-111)। कम्प्यूटेशनल भाषाविज्ञान संघ।
16. टेस्नीयर, एल. (1959). संरचनात्मक वाक्यविन्यास तत्व.
17. निवरे, ज. (2005). निर्भरता व्याकरण और निर्भरता पार्सिंग. एमएसआई रिपोर्ट, 5133, 1–32.
18. हेलविग, पी. (1986). निर्भरता एकीकरण व्याकरण. कोलिंग 1986 खंड 1 में: कम्प्यूटेशनल भाषाविज्ञान पर 11वाँ अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन.

•